

## औद्योगीकरण का अन्धविश्वास : ले. सुनील

सिंगूर और नन्दीग्राम की घटनाओं से और इनके पहले कलिंगनगर तथा दादरी जैसे संघर्षों से इतना जरूर हुआ है कि भूमण्डलीकरण के रास्ते पर दौड़ते मदांध शासक वर्ग के पैर कुछ ठिठके हैं तथा देश में एक बहस छिड़ी है। विशेष आर्थिक क्षेत्रों की मंजूरी कुछ दिनों के लिए रुकी है तथा सरकारें कुछ पुनर्विचार के लिए मजबूर हुई हैं।

लेकिन अक्सर यह बहस सतही स्तर पर हो रही है और समस्या के सतही समाधान खोजे जा रहे हैं। विशेष आर्थिक क्षेत्रों और उद्योगों के लिए विस्थापन के कई आलोचक भी ( जिनमें माकपा भी शामिल है ) इस तरह के सूत्र व सुझाव दे रहे हैं। जैसे कहा जा रहा है कि उपजाऊ , तीन फसली या दो फसली जमीन इनके लिए न ली जाए। खाली पड़ी, पड़त , बंजर या कम उपजाऊ भूमि पर उद्योग या विशेष आर्थिक क्षेत्र बनाये जा सकते हैं। किन्तु यह कहने से अपेक्षाकृत पिछड़े और समूचे आदिवासी इलाकों में विस्थापन को समर्थन मिल जायेगा। इस नियम से सिंगूर-नन्दीग्राम गलत होगा, किंतु कलिंगनगर-काशीपुर सही हो जाएगा। दरअसल सवाल जमीन की गुणवत्ता का नहीं है। जमीन कैसी भी हो , उस इलाके के बहुसंख्यक लोगों की जिंदगी और जीविका का प्रमुख आधार होती है। इस जमीन को छीन लेने से वहाँ के लोगों के जीवन पर बड़ा संकट आ जाता है। यह भी कहा जा रहा है कि विस्थापन तो हो किन्तु पुनर्वास अच्छा हो , विस्थापितों को रोजगार मिले और नए उपक्रमों में विस्थापितों को शेयर दिये जाएं। भारत सरकार भी एक नई पुनर्वास नीति तैयार करने में जुटी है। लेकिन अपने अनुभव से हम जानते हैं कि पुनर्वास नीति कितनी ही अच्छी क्यों न हो , उस पर अमल नहीं होता तथा विस्थापितों के साथ कभी न्याय नहीं होता। विस्थापितों के मुकाबले परियोजना में निहित बड़ी ताकतों के हित ज्यादा भारी हो जाते हैं। सरदार सरोवर परियोजना का उदाहरण हमारे सामने है।

यह भी दलील दी जा रही है कि कंपनियों के लिए सरकारें भूमि का अधिग्रहण न करें कंपनियां स्वयं जमीन किसानों से खरीदें। विशेष आर्थिक क्षेत्रों के विषय में भारत सरकार का ताजा फैसला यही है। इससे किसानों से जमीन छीन कर कंपनियों को कौड़ियों के मोल सौंपने की प्रक्रिया पर निश्चित ही रोक लगेगी और जमीन के अरबों-खरबों के घोटाले रुकेंगे। लेकिन जहाँ कंपनियों को करों में छूटें और लूट के अवसरों से मुनाफों के पहाड़ दिखाई दे रहे हैं , वहाँ वे किसानों को आकर्षक कीमत देकर भी जमीन खरीद सकती हैं। और नए कंपनी-सरकार राज में किसानों को जमीन बेचने के लिए कई तरह के दबाव और बल का प्रयोग करने में भी कंपनियाँ नहीं चूकती हैं। कंपनियों के हाथ में जमीन जाने की प्रक्रिया को सुगम बनाने के लिए हमारी सरकारें भी कई कदम उठा रही हैं। भूमि हदबन्दी कानूनों को शिथिल किया जा रहा है और भूमि का बाजार विकसित करने की कोशिश की जा रही है। खेती में जिस तरीके

से लगातार नुकसान हो रहा है और वह तेजी से घाटे की खेती बनती जा रही है, उसके चलते कई जगहों पर किसान स्वयं भी जमीन बेचने के लिए तैयार(या मजबूर) हो रहे हैं। लेकिन सवाल यह है कि क्या बड़े पैमाने पर जमीन किसानों के हाथ से निकलकर कंपनियों के हाथ में जाना तथा खेती से निकलकर उद्योगों व अन्य उपयोगों में जाना उचित और वांछनीय है?

यहीं पर कुछ बुनियादी सवाल आ जाते हैं। वे यह हैं कि हमारी अर्थव्यवस्था में खेती, उद्योगों और अन्य गतिविधियों का क्या तथा कितना स्थान होगा? क्या विकास के लिए औद्योगीकरण जरूरी है? यह औद्योगीकरण किस प्रकार का होगा? आखिर माकपा नेताओं ने सिंगूर-नन्दीग्राम के सन्दर्भ में यही तर्क तो दिए हैं! उनका कहना है कि भूमि सुधारों के जरिए खेती के विकास की एक सीमा है जो पश्चिम बंगाल में आ चुकी है। खेती में एक हद से ज्यादा रोजगार नहीं मिल सकता है। अब आगे के विकास के लिए बंगाल का औद्योगीकरण जरूरी है और इसके लिए टाटा, सालेम समूह आदि को बुलाना जरूरी है। “क्या किसान का बेटा किसान ही रहेगा?” – बुद्धदेव भट्टाचार्य ने यह प्रश्न अपने विरोधियों से पूछा है। इन दलीलों का स्पष्ट जवाब माकपा-विरोधियों को देना होगा और इन प्रश्नों का समाधान खोजना होगा। इन पर एक विस्तृत बहस चलाने का समय आ गया है।

यह बहस इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि सिंगूर-नन्दीग्राम की घटनाओं पर अनेक प्रतिक्रियाएं वाममोर्चा सरकार के नैतिक पतन, माकपा की गुण्डागर्दी, आदि तक सीमित रही हैं। औद्योगीकरण और विकास की वर्तमान नीति और उसके पीछे की सोच पर पर्याप्त सवाल नहीं उठाए गए हैं। यदि विकास की कोई वैकल्पिक राह नहीं खोजी गयी, तो भूमण्डलीकरण के झोले में से सिंगूर व नन्दीग्राम तो अनिवार्य रूप से निकलेंगे ही।

दरअसल मार्क्सवादी और पूंजीवादी दोनों प्रकार के चिंतन में खेती व गांव एक पुरानी, पिछड़ी और दकियानूसी चीज है, एक पुरानी सभ्यता के अवशेष हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा और पश्चिमी यूरोप में राष्ट्रीय आय में और कार्यशील आबादी में खेती का हिस्सा दो – तीन प्रतिशत से ज्यादा नहीं रह गया है। वहाँ तेजी से नगरीकरण हो रहा है। यूरोप के कुछ हिस्सों में तो कई गांव उजड़ चुके हैं या वहां कुछ बूढ़ों के अतिरिक्त कोई नहीं रहता है। हमारे अनेक नेताओं और बुद्धिजीवियों की दृष्टि में यही हमारी भी मंजिल है और इस दिशा में बढ़ने को वे स्वाभाविक व वांछनीय मानते हैं।

गांवों और खेती से विस्थापन की शुरुआत पश्चिम यूरोप में पूंजीवाद के आगमन के साथ ही हो गई थी। वहां बड़े पैमाने पर किसानों को जमीन से बेदखल किया गया था। इंग्लैंड में खेतों की जगह वस्त्र उद्योग के लिए बड़े पैमाने पर भेड़ पालन के लिए चारागाह बनाए गए थे। इससे, नवोदित बड़े उद्योगों के लिए सस्ते बेरोजगार मजदूरों की विशाल फौज भी उपलब्ध हुई। औद्योगिक क्रांति की



प्रक्रिया का यह एक अनिवार्य व महत्वपूर्ण हिस्सा था। मार्क्स ने बताया कि जमीन से बेदखल इन मजदूरों ने "श्रम की सुरक्षित औद्योगिक फौज" को बढ़ाने का काम किया। मार्क्स ने इस प्रक्रिया को "प्राथमिक पूंजी संचय" का नाम दिया। भारत में आज जो कुछ हो रहा है उसकी तुलना इससे की जा सकती है।

क्या सिंगूर [चायकोवस्की (प्रमुख नारोदनिक)]

नन्दीग्राम भी भारत का 'प्राथमिक पूंजी संचय' है और पूंजीवाद के आगे बढ़ने की निशानी है? क्या इसीलिए बंगाल की वामपंथी सरकार इस प्रक्रिया को 'कष्टदायक किन्तु अनिवार्य' मानकर चल रही है?

कार्ल मार्क्स की खूबी यह थी कि पूंजीवाद के विकास के पीछे की इन सारी प्रक्रियाओं को उन्होंने उधेड़कर रख दिया था, और उनका निर्मम विश्लेषण किया था। किन्तु उनकी एक कमी यह थी कि पश्चिम यूरोप की इन तत्कालीन प्रक्रियाओं को उन्होंने इतिहास की अनिवार्य गति माना और यह मान लिया कि पूरी दुनिया में देर-सबेर इन्हीं प्रक्रियाओं को दोहराया जाना है। सांमंतवाद से पूंजीवाद में प्रवेश, फिर पूंजीवाद के अन्तर्विरोधों के परिपक्व होते हुए संकट आना और तब श्रमिक क्रांति के साथ समाजवाद का आगमन, यह इतिहास की अनिवार्य गति है। दुनिया के हर हिस्से को इस प्रक्रिया से गुजरना होगा तथा इसी पूंजीवादी औद्योगीकरण को बायपास करके कोई भी देश सीधे समाजवाद की ओर नहीं जा सकता। रूस के नारोदनिकों के साथ कम्युनिस्टों की बहस का प्रमुख मुद्दा यही था। नारोदनिक सोचते थे कि जार को हटाकर रूस की पारम्परिक गांव आधारित सामुदायिक व्यवस्था से सीधे समाजवाद की ओर जाया जा सकता है। आज माकपा के महासचिव प्रकाश करात कह रहे हैं कि नन्दीग्राम - सिंगूर मसले पर बंगाल सरकार की आलोचना करने वाले वामपंथी नारोदनिकों की ही तरह बात कर रहे हैं और सच्चे मार्क्सवादी नहीं हैं। पूंजीवाद का विकास भी पश्चिम यूरोप की तरह होगा जिसमें बड़े-बड़े उद्योग होंगे तथा उनमें हजारों-हजारों की संख्या में मजदूर काम करेंगे। इन्हीं करखनिया मजदूरों के बढ़ते संगठन तथा उनकी बढ़ती वर्ग चेतना की बदौलत साम्यवादी क्रांति होगी और वे ही क्रांति के हरावल दस्ते होंगे।

इस सिद्धान्त में मार्क्स के अनुयायियों का विश्वास इतना गहरा था कि दुनिया के गैर-यूरोपीय हिस्सों में भी वे मानते रहे हैं कि पूंजीवाद का आगमन एवं विकास इतिहास का एक अनिवार्य और प्रगतिशील कदम है तथा औद्योगिक मजदूर ही क्रांति के अग्रदूत होंगे। भारत सहित तमाम देशों वहां की जमीनी असलियतों को नजरअन्दाज करते हुए, वे संगठित क्षेत्रों के मजदूरों को ही संगठित करने में लगे रहे। जाहिर है कि इस विचार में किसानों का कोई स्थान नहीं था। जमीन से चिपके होने के

कारण किसान 'सर्वहारा' नहीं हो सकते। सोवियत क्रांति में बोल्शेविकों ने किसानों का समर्थन हासिल किया था और बोल्शेविकों की जीत में इस समर्थन की महत्वपूर्ण भूमिका थी। लेकिन बाद में सोवियत रूस में औद्योगीकरण के एक अनिवार्य कदम के रूप में कृषि उपज की कीमतों में कमी की गयी, तब किसानों ने अपना अनाज बेचने से इंकार कर दिया। तब किसानों से जमीन छीनकर जबरदस्ती सामूहिक फार्म बना दिये गये और विरोध करने वाले लाखों किसानों को स्टालिन राज में मौत के घाट उतार दिया गया या दूरदराज के इलाकों में निष्कासित करके निर्माण कार्यों में मजदूरी पर लगा दिया गया। तभी से किसानों को 'कुलक' कहकर मार्क्सवादी दुनिया में तुच्छ नजरों से देखा जाता है और आम तौर पर, उन्हें क्रांति-विरोधी माना जाता है। भारत में भी कई बार वामपंथियों द्वारा किसान आन्दोलनों को कुलक आंदोलन कह कर तिरस्कृत किया गया है।

चीन की परिस्थितियाँ अलग थीं और रूस जितना सीमित औद्योगीकरण भी वहां नहीं हुआ था। इसलिए माओ के नेतृत्व में चीन की साम्यवादी क्रांति पूरी तरह किसान क्रांति थी। इसलिए प्रारंभ में साम्यवादी चीन का रास्ता अलग भी दिखायी देता है। घर के पिछवाड़े इस्पात भट्टी, नंगे पैर डॉक्टरों और साईकिलों का चीन विकास की एक अलग राह पकड़ता मालूम होता है। लेकिन संभवतः पश्चिमी ढंग के औद्योगीकरण की श्रेष्ठता व अनिवार्यता का विश्वास मार्क्सवादी दर्शन में इतना गहरा था कि चीन के साम्यवादी शासकों ने भी यह मान लिया कि ये सब तो संक्रमणकालीन व्यस्थाएं हैं, अंततः चीन को भी उसी तरह का औद्योगीकरण करना है, जैसा यूरोप-अमरीका में हुआ। इसी विश्वास और विकास की इसी राह की मजबूरियों आखिरकार साम्यवादी चीन को भी पूरी तरह पूंजीवादी पथ का अनुगामी बना दिया। यहाँ नोट करने लायक बात यह है कि सोवियत संघ के पतन के बाद चीन ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों का मॉडल है। बुद्धदेव भट्टाचार्य और मनमोहन सिंह, दोनों चीन का गुणगान और अनुकरण करते नजर आते हैं। विशेष आर्थिक क्षेत्र की अवधारणा भी चीन से ही आई है। चीन से जो खबरें आ रही हैं, उनसे मालूम होता है कि वहाँ बड़े पैमाने पर विस्थापन, बेदखली, प्रवास और बेरोजगारी का बोलबाला है। कई नन्दीग्राम वहाँ पर भी हो रहे हैं।

तो मार्क्सवाद की धारा में पूंजीवाद और (पश्चिम यूरोप की तरह के) औद्योगीकरण से कोई छुटकारा नहीं है। समाजवाद के पहले पूंजीवाद को आना ही होगा। मार्क्स ने जिन्हें उत्पादन की शक्तियां कहा है, जिन्हें प्रचलित भाषा तकनालाजी कहा जा सकता है, जब तक उनका विकास नहीं होगा तब तक समाजवाद के आने के लिए स्थिति परिपक्व नहीं होगी। पूरी दुनिया को इसी रास्ते से गुजरना होगा। आधुनिक औद्योगिक विकास का एक वैकल्पिक रास्ता सोवियत संघ का था, जिसमें पूंजी संचय और बड़े उद्योगों के विकास का काम सरकार करती है। किन्तु सोवियत मॉडल के फेल हो जाने के बाद, अब कोई दूसरा रास्ता नहीं है। इसीलिए बंगाल की वामपंथी सरकार ने टाटा और सालेम समूह को

आमंत्रित करके ही बंगाल के औद्योगीकरण की योजना बनाई है। देश के अन्य राज्यों के मुख्यमन्त्रियों की तरह ज्योति बसु और बुद्धदेव भट्टाचार्य भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को आमंत्रित करने के लिए विदेश यात्राएं करते हैं। जिस टाटा – बिड़ला को कोसे बगैर भारतीय साम्यवादियों का कोई कार्यक्रम पूरा नहीं होता था, उसी टाटा से आज उनकी दोस्ती व प्रतिबद्धता इतनी गहरी हो गयी है कि वे अपने किसानों पर लाठी-गोली चला सकते हैं, लेकिन उनका साथ नहीं छोड़ सकते हैं। यह सब वे बंगाल के औद्योगीकरण के लिए कर रहे हैं। जाहिर है कि औद्योगीकरण में यह आस्था अंधविश्वास की हद तक पहुंच गयी है।

दरअसल, उदारवादी या नव उदारवादी तथा मार्क्सवादी दोनों विचारधाराओं में पूंजीवाद के विकास के एक महत्वपूर्ण आयाम को नजरअन्दाज करने से यह गड़बड़ी पैदा हुई है। वह यह है कि पूंजीवाद के विकास में औपनिवेशिक लूट व शोषण की एक महत्वपूर्ण तथा अनिवार्य भूमिका थी। पूंजी संचय का स्रोत सिर्फ देश के अन्दर किसानों का विस्थापन और मजदूरों का शोषण नहीं था। पूरी दुनिया के किसानों, मजदूरों, करीगरों और पारम्परिक धंधों के शोषण व विनाश पर यूरोप की औद्योगिक क्रांति आधारित थी। यदि इंग्लैंड, फ्रान्स, जर्मनी, स्पेन, हालैन्ड, आदि के पास पूरी दुनिया के उपनिवेश नहीं होते, तो औद्योगिक क्रांति हो ही नहीं सकती थी। असली सर्वहारा तो इन उपनिवेशों के किसान, बुनकर, करीगर और आदिवासी थे। आज भी नव-औपनिवेशिक तरीकों से पूरी दुनिया को लूटकर व चूसकर ही यूरोप-अमरीका में पूंजीवाद फला-फूल रहा है। भूमंडलीकरण इसी प्रक्रिया का नवीनतम और व्यापकतम रूप है। अमेरिका यूरोप की समृद्धि और एशिया-अफ्रीका-लातिनी अमेरिका की कंगाली व बदहाली एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

निश्चित रूप से कार्ल मार्क्स का ध्यान इस ओर गया था और उन्होंने अपने ग्रन्थ 'पूंजी' में औपनिवेशिक लूट का विस्तृत वर्णन किया है। लेकिन इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य को उन्होंने अपने विश्लेषण का अंग नहीं बनाया। बाद में रोज़ा लक्ज़मबर्ग ने कुछ हद तक इस कमी को पूरा करने की कोशिश की। लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि उपनिवेशों की लूट और शोषण, पूंजीवाद के विकास तथा औद्योगीकरण का एक प्रमुख आधार है, तो दुनिया के गैर – यूरोपीय देशों के लिए तो यह रास्ता खुला ही नहीं है। वे कहाँ के उपनिवेश लाएँगे? इसलिए भारत सहित एशिया-अफ्रीका-लातिनी अमेरिका के तमाम देशों के लिए पूंजीवादी विकास और औद्योगीकरण का विकल्प मौजूद ही नहीं है। वहाँ सीमित और अधकचरे किस्म का वैसा ही औद्योगीकरण हो सकता है, जैसा अभी तक हुआ है। लेकिन आधुनिक औद्योगीकरण की औपनिवेशिक शोषण की अनिवार्यता इतनी गहरी है व अन्तर्निहित है कि इसके लिए भी इन देशों के बाहर उपनिवेश नहीं मिले, तो देश के अंदर उपनिवेश विकसित करने पड़े



*Rosa Luxemburg*

। इन देशों के पिछड़े इलाके, आदिवासी अंचल, गाँव और खेती आधारित समुदाय, एक प्रकार के 'आंतरिक उपनिवेश' हैं, जो लगातार उपेक्षा, शोषण, लूट व विस्थापन के शिकार होते रहते हैं। इसलिए खेती और किसानों का दायम दर्जा, कंगाली व शोषण आधुनिक पूंजीवादी विकास और औद्योगिक व्यवस्था में अंतर्निहित है। वह पूंजी संचय और पूंजी निर्माण का एक प्रमुख स्रोत है। मार्क्सवादी विचार की एक प्रमुख कमी यह है कि एक कारखाने के अंदर मजदूरों के शोषण को ही उसने, अतिरिक्त मूल्य का प्रमुख स्रोत मान लिया लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विनिमय एवं पूंजी के जरिये अन्य देशों का शोषण तथा देश के अन्दर अर्थव्यवस्था के अन्य हिस्सों का शोषण इसका ज्यादा बड़ा स्रोत साबित हुआ है। इसी शोषण के कारण पश्चिमी यूरोप के देशों में पूंजीपतियों और मजदूरों दोनों की आमदनी में वृद्धि संभव हुई, दोनों के बीच का टकराव टालना संभव हुआ तथा इन देशों में वह क्रान्ति नहीं हुई, जिसकी भविष्यवाणी मार्क्स और एन्गल्स ने की थी। दुनिया के गैर यूरोपीय देशों की दृष्टि मार्क्स के विचार की यह एक प्रमुख कमी थी, जिसे भारत में डॉ. राममनोहर लोहिया ने 'मार्क्स के बाद का अर्थशास्त्र' ( **Economics after Marx, 'Marx, Gandhi and Socialism'**) नामक अपने निबंध में अच्छे ढंग से उजागर किया है।

मार्क्स के विश्लेषण में एक कमी और थी। श्रम को उन्होंने उत्पादन और मूल्य सृजन का मुख्य आधार माना। एक मजदूर के श्रम से जो उत्पादन होता है, उसका पूरा हिस्सा उसे न दे कर एक छोटा सा हिस्सा दिया जाता है, और यही अतिरिक्त मूल्य का व मालिकों के मुनाफ़े का स्रोत बनता है। यह सही है, लेकिन इससे तस्वीर पूरी नहीं बनती। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में औद्योगीकरण का एक प्रमुख आधार बड़े पैमाने पर प्राकृतिक संसाधनों का मुफ्त या बहुत कम लागत पर दोहन, शोषण व विनाश भी रहा है। जिस तरह कारखाने के अन्दर एवं देश के अन्दर श्रम का शोषण पूंजीवादी औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं था, उसी तरह प्राकृतिक संसाधनों की लूट व बरबादी भी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हुई। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, विनिमय व अंतर्राष्ट्रीय पूंजी निवेश इसके प्रमुख माध्यम बने। प्राकृतिक संसाधनों का यह शोषण कच्चे माल की निरंतर बढ़ती जरूरतों के रूप में तो है ही, जो खदानों, खेतों,

जंगलों और सागरों से प्राप्त होता है। लेकिन जल, जंगल, जमीन, हवा, जैविक सम्पदा आदि को सीधे हड़पने, प्रदूषित करने और नष्ट करने की औद्योगिक पूंजीवाद की क्षमता व जरूरत भी जबरदस्त है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यदि अमेरिका के दोनों विशाल महाद्वीप व आस्ट्रेलिया महाद्वीप के मूल निवासियों को नष्ट करके वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों को लूटने तथा एशिया व अफ्रीका के प्राकृतिक संसाधनों को हड़पने का मौका यूरोप को न मिला होता तो भी औद्योगिक क्रान्ति संभव नहीं होती। चूंकि दुनिया के गरीब एवं कथित रूप से 'अविकसित' देशों में अधिकांश लोगों की जिन्दगी अभी भी प्रकृति एवं प्राकृतिक संसाधनों से जुड़ी है, वहाँ पर औद्योगिक सभ्यता का दोनों तरह का शोषण (श्रम एवं प्राकृतिक संसाधनों का) काफी हद तक एकाकार हो जाता है। दोनों के विनाशकारी असर को भोगने के लिए वहाँ की जनता मानों अभिशप्त है।\*

---

\* दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पूंजीवादी मुनाफे के साथ एक प्रकार का 'लगान' भी पूंजीवाद का महत्वपूर्ण (शायद ज्यादा महत्वपूर्ण) अंग है। यह 'लगान' प्राकृतिक संसाधनों पर बलात कब्जे व एकाधिकार से आता है। इसी प्रकार पेटेंट – कॉपीराइट कानूनों के जरिये ज्ञान पर एकाधिकार कायम करके कमाई जा रही रॉयल्टी भी इसी तरह की आय है। यह भी कहा जा सकता है कि जमीन एवं अन्य प्राकृतिक संसाधनों से लोगों को बेदखल करके होने वाला 'प्राथमिक पूंजी संचय' कोई पूंजीवाद का पूर्व चरण या प्रारंभिक चरण नहीं है, बल्कि यह निरंतर चलने वाली पूंजी के विस्तार की पूंजीवाद की महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।

---

पूंजीवादी और औद्योगिक सभ्यता के इस विनाशकारी पहलू का अहसास उन्नीसवीं शताब्दी में मार्क्स सहित यूरोपीय विचारकों को नहीं होना स्वाभाविक था, लेकिन गांधी ने इसे बहुत पहले ताड़ लिया था। इसीलिए गांधी ने इसे राक्षसी सभ्यता कहा था। यूरोप – अमेरिका में हाल में दो – तीन दशक पहले, जब प्रदूषण से उनका खुद का जीवन नारकीय होने लगा, तब जाकर इसके विरुद्ध आवाज उठी और ग्रीन्स जैसे आंदोलनों ने जन्म लिया। अब तो ओजोन की छतरी में छेद और दुनिया के बढ़ते तापमान की चिन्ता उन्हें सता रही है। स्वयं के जंगलों को नष्ट करके और पूरी दुनिया के जंगलों के नाश के लिए बहुत हद तक जिम्मेदार होने के बाद अब वे जंगलों और जंगली जानवरों की प्रजातियों को बचाने के लिए अभियान चला रहे हैं। लेकिन इस पर्यावरण चेतना में अभी भी यह बात पूरी तरह नहीं आई है कि असल में इस विनाश का कारण तो औद्योगिक सभ्यता और आधुनिक जीवन शैली है। जब तक उसपर रोक नहीं लगायी जाती, और उसका विकल्प नहीं ढूँढा जाता, तब तक पर्यावरण और मानवीय दोनों प्रकार के संकट गहराते जाएंगे।



नन्दीग्राम , सिंगूर ,कलिंगनगर , काशीपुर आदि इस बात के भी द्योतक हैं कि आधुनिक औद्योगीकरण की जल – जंगल-जमीन-खनिज की भूख बहुत जबरदस्त है। यह बात स्पष्ट रूप से सामने आ रही है कि बड़े उद्योगों , आधुनिक जीवन-

शैली और भूमण्डलीकरण के लिए किसानों-मजदूरों का शोषण तथा उससे पूंजी संचय ही पर्याप्त नहीं है , उसे बड़े पैमाने पर जमीन भी चाहिए। इसी प्रकार पानी की उसकी जरूरत भी जबरदस्त है और कई स्थानों पर पानी को ले कर भी झगड़े और संकट पैदा हो रहे हैं। उड़ीसा की महानदी पर हीराकुद बांध चार दशक पहले सिंचाई के लिए बना था,किन्तु अब उसके बगल में ढेर सारे उद्योगों के इस बांध से पानी देने के करार उड़ीसा सरकार ने कर लिये हैं , जिससे किसान आशंकित और आन्दोलित हो गये हैं।केरल के प्लाचीमाडा जैसे आन्दोलन भी बहुचर्चित हैं जहाँ स्वयं पानी एक बाजार में बेचने की वस्तु बनने और उसके अत्यधिक खनन से संकट पैदा हो गया है और पानी पर किसका अधिकार होगा, वहाँ यह सवाल खड़ा हो गया है। इसी प्रकार , उड़ीसा – झारखण्ड-छत्तीसगढ़ में खनिजों को लेकर बड़े पैमाने पर करार हो रहे हैं , जिनमें पोस्को व मित्तल जैसे समझौते भी हैं।दुनिया के खनिज भण्डार सीमित हैं। अब पूंजीवादी औद्योगीकृत देशों की रणनीति है कि वे अपने खनिज भण्डार सुरक्षित रखकर शेष दुनिया के खनिजों का दोहन करना चाहते हैं।मुक्त व्यापार और निर्यात आधारित विकास का जो पाठ दुनिया के गरीब ' अविकसित ' देशों को पढ़ाया जा रहा है , वह उनकी इस रणनीति में काफी सहायक साबित हो रहा है। विश्व व्यापार संगठन , विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इसमें उनके औजार हैं। लेकिन जहाँ इनसे काम नहीं चलता , वे सीधे सैनिक बल का प्रयोग करने से भी नहीं चूकते। इराक और अफगानिस्तान में अमरीका- ब्रिटेन का हमला इसका ताजा उदाहरण है।

आज भारत में या दुनिया के स्तर पर जो संघर्ष हो रहे हैं या जो विवाद चल रहे हैं , उनके केन्द्र में नव-औपनिवेशिक शोषण , साम्राज्यवादी चालें , अस्मिताओं की टकराव एवं प्राकृतिक संसाधनों को लेकर टकराव ही है। मालिक-मजदूरों के संघर्ष या तो अनुपस्थित हैं या नपथ्य में चले गये हैं। भारत में पिचले तीन दशकों में जो आन्दोलन चर्चा व सुर्खियों में रहे हैं, वे या तो सीधे जल-जंगल-जमीन को लेकर हुए हैं जैसे चिपको , नर्मदा बचाओ, चिलिका,गंधमार्दन,काशीपुर,गोपालपुर,कोयलकारो ,टिहरी , प्लाचीमाडा , मेंहदीगंज , कालाडेरा,बालियापाल,नेतरहाट,पोलावरम ,कलिंगनगर , लांजीगढ़ , कावेरी जल विवाद , या फिर किसानों के , आदिवासियों के, दलितों के , और क्षेत्रीय अस्मिताओं (असम,झारखण्ड , पृथक तेलंगाना,पंजाब,कश्मीर,उत्तरपूर्व ,उत्तरबंग आदि) के संघर्ष रहे हैं।वे भी आधुनिक विकास की विसंगतियों ,क्षेत्रीय विषमता और अत्यधिक केन्द्रीकरण से उपजे हैं। दुनिया के स्तर पर भी जो संघर्ष एवं टकराव चल रहे हैं जैसे इराक , अफगानिस्तान , वेनेजुएला , बोलिविया , इरान , नाईजीरिया , फिलीस्तीन आदि, उनके पीछे भी तेल , प्राकृतिक गैस , जमीन ,खनिज जैसे प्राकृतिक संसाधनों का झगड़ा एक प्रमुख कारक है। बीसवीं और इक्कीसवीं सदी की दुनिया की यह एक



बड़ी सच्चाई है , जिसकी रोशनी में हमें अपने पुराने सिद्धान्तों और विश्वासों को परखना होगा , नन्दीग्राम-सिंगूर जैसी घटनाओं को देखना होगा तथा आगे की राह खोजना होगा ।

भारत की खेती और भारत के किसान , आज इस औद्योगिक सभ्यता के प्रमुख निशाने पर हैं । बहुराष्ट्रीय कंपनियों को इसमें अपने मुनाफों की नयी संभावनाएं दिखाई दे रही हैं । भूमण्डलीकरण का जो चौतरफा हमला भारत के किसानों पर हो रहा है, सीधे जमीन का अधिग्रहण और विस्थापन उस हमले का सिर्फ एक हिस्सा है । आम किसानों के लिए खेती की लागतों को बढ़ाना तथा उनको मिलने वाले कृषि उपज के दामों को गिराना ( या पर्याप्त बढ़ने न देना) और इस प्रकार खेती को निरंतर घाटे का धन्धा बनाना, इस हमले की रणनीति का प्रमुख अंग है । नतीजा यह हुआ है कि आम किसान भारी कर्ज में डूब रहे हैं और बड़ी संख्या में आत्महत्या कर रहे हैं । किसान स्वयं खेती छोड़ दें या फिर कंपनियों के चंगुल में आ जाएं इसके लिए कई कानून , नीतियाँ व योजनाएँ बनाई जा रही हैं । खाद्य स्वावलम्बन या खाद्य सुरक्षा की बात अब पुरानी हो गयी है । मुक्त व्यापार के सिद्धान्तकारों का कहना है कि कोई जरूरी नहीं कि भारत अपनी जरूरत का अनाज , दालें या खाद्य तेल खुद पैदा करें । अंतर्राष्ट्रीय बाजार में कर्पोरेट खेती ही आगे बढ़ेगी , शेष खेती डूब जायेगी । जब भारत सरकार खेती की विकास दर बढ़ाने और दूसरी हरित क्रांति की बात करती है , तो उसकी नजर में इसी प्रकार की खेती होती है । इसलिए , भारत सरकार हो या पश्चिम बंग सरकार , सिंगूर-नन्दीग्राम के छोटे छोटे किसानों की खेती को बचाना या उसे समृद्ध बनाना , उनके एजेण्डे में नहीं है । यह एक संयोग नहीं है कि पिछले वर्षों में पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार की कृषि नीति को तैयार करने का काम ब्रिटेन की मेकिन्जी नामक उसी सलाहकार कंपनी को दिया गया था , जो विश्व बैंक और एशियाई विकास बैंक की परियोजनाओं में अक्सर मौजूद रहती है और जो भारत के योजना आयोग , भारत सरकार के अनेक मंत्रालयों और भूमण्डलीकरण पथ अनुगामी राज्य सरकारों को अक्सर सलाह देती रहती है ।

यह सही है कि आज भारत के किसानों की हालत अच्छी नहीं है और गांवों में रोजगार , प्रगति तथा बेहतरी के अवसर नजर नहीं आते हैं । बुद्धदेव भट्टाचार्य जब सवाल पूछते हैं कि ' क्या किसान का बेटा किसान ही रहेगा ? ' तो वे ग्रामवासियों और किसानों की इस बदहाली व प्रगतिहीनता की स्थिति को अपने पक्ष में भुनाना चाहते हैं । लेकिन सवाल यह है कि गांव – खेती की इस बदहाली , जाहिली व गतिहीनता के लिए कौन जिम्मेदार है ? क्या तीस वर्षों से बंगाल पर राज कर रही वामपंथी सरकार स्वयं नहीं , जिसने ऑपरेशन बरगा वाले भूमि सुधारों को अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली और उसके बाद कुछ नहीं किया ? क्या भारत सरकार और पश्चिम बंगाल द्वारा समान रूप से अपनाई जा रही विकास नीतियाँ इसके लिए जिम्मेदार नहीं हैं ?

दूसरा सवाल यह है कि सिंगूर-नन्दीग्राम वगैरा से बेदखल कितने किसान-पुत्रों को महानगरों में सम्मानजनक रोजगार मिल पाएगा ? क्या वे महानगरों के नारकीय जीवन वाली झुग्गी झोपड़ियों की संख्या ही बढ़ाने का काम नहीं करेंगे ?

जब बुद्धदेव भट्टाचार्य ( या मनमोहन सिंह , चिदम्बरम ,अहलूवालिया) औद्योगीकरण को बंगाल (या भारत) की बेरोजगारी की समस्या का एकमात्र हल बताते हैं , तो वे इस ऐतिहासिक तथ्य को भूल जाते हैं कि इस प्रकार के औद्योगीकरण से दुनिया में कहीं भी बेरोजगारी की समस्या हल नहीं हुई है ।इस औद्योगीकरण से तो बेरोजगारी पैदा होती है , खतम नहीं होती है । पश्चिमी यूरोप के देशों में भी पूँजीवाद एवं औद्योगीकरण ने बेरोजगारी पैदा की है । लेकिन वहाँ की बेरोजगारी हमें इसलिए नहीं दिखाई देती , क्योंकि यूरोप के लोग अमरीका- ऑस्ट्रेलिया – दक्षिणी अफ्रीका में फैल गये और वहाँ के मूल निवासियों को बेदखल करके वहाँ के संसाधनों पर कब्जा करके वहीं बस गये । एक प्रकार से अपनी बेरोजगारी व बदहाली उन्होंने गैर-यूरोपीय अश्वेत लोगों को स्थानांतरित कर दी । आज भी यूरोप-अमरीका से रोजगार का प्रमुख स्रोत उद्योग नहीं तथाकथित सेवाएँ हैं ।ये सेवाएँ एक प्रकार का भ्रामक नाम है । पूरी दुनिया को लूटकर जो पैसा व समृद्धि अमरीका-यूरोप में बटोरी जाती है , उसी को आपस में बांटने व मौज करने का नाम ये सेवायें हैं ।पाँच सितारा होटल , रेस्तराँ , पर्यटन , टेलीफोन , टी.वी. , फिल्म , विज्ञापन , परिवहन , व्यापार , बैंक , बीमा आदि आज की प्रमुख सेवाएँ हैं । इन सेवाओं में वास्तविक उत्पादन या सृजन नहीं होता है ।खेती-उद्योगों में जो उत्पादन और आय-सृजन होता है , उसी को बांटने का काम सेवाएँ करती हैं । इन्हें परजीवी भी कहा जा सकता है ।

जिस चीन की चमत्कारिक प्रगति को आज मनमोहन – माकपा दोनों अनुकरणीय मान रहे हैं, वहाँ भी तेजी से औद्योगीकरण और निर्यातों में वृद्धि होने के बावजूद रोजगार में वृद्धि नहीं हुई है। 'फ्रन्टलाइन' के एक ताजे अंक में अर्थशास्त्री जयति घोष ने अपने स्तम्भ में बताया है कि चीन में उद्योगों से अधिकतम रोजगार वर्ष १९९५ में १० करोड़ से भी कम था । निर्यात-आधारित उद्योगों में तेजी से वृद्धि के बावजूद उद्योगों से रोजगार अब उस से भी १२ प्रतिशत कम है । (फ्रन्टलाइन , १२ अप्रैल २००७) ।

अमरीका-यूरोप की समृद्धि की चकाचौंध से चमत्कृत पूँजीवादी तथा माकपा-छाप साम्यवादी दोनों एक साधारण सा प्रश्न भूल जाते हैं । यूरोप-अमरीका में खेती और उद्योगों से बेदखल व बेरोजगार हुए लोग तो पूरी दुनिया में बंट गये , औपनिवेशिक तथा नव-औपनिवेशिक लूट में खप गए ,जम गए। भारत में यदि बड़े पैमाने पर गाँव गाँव-खेती से लोग बेदखल होंगे, तो वे करोड़ों लोग कहाँ जाएंगे?उनका क्या भविष्य होगा ?

मानव समाज में खेती का स्थान तीन कारणों से महत्वपूर्ण रहा है और रहेगा ।

एक , अमरीका-यूरोप में खेती का स्थान गौण हो सकता है , लेकिन तमाम औद्योगीकरण और विकास के बावजूद आज भी मानव जाति का बड़ा हिस्सा गांवों में रहता है और अपनी जीविका के लिए खेती , पशु – पालन , मत्स्याखेट , आदि पर आश्रित है । भारत जैसे देशों में आज भी ७० प्रतिशत से ज्यादा लोग गांवों में निवास करते हैं । भले ही भारत की राष्ट्रीय आय में खेती का हिस्सा २५ प्रतिशत से नीचे जा रहा है , आज भी देश की ६५ प्रतिशत आबादी खेती पर निर्भर है । ( यह भी खेती के शोषण का एक सूचक है । ) इसलिए यदि विकास की कोई भी योजना समावेशी होना चाहती है और एकांगी व असंतुलित नहीं है , तो उसे गाँव और खेती को अपने केन्द्र में रखना पड़ेगा । खेती की उपेक्षा करके इस विशाल आबादी को उद्योगों या महानगरों में बेहतरी के सपने दिखाना एक तुगलकी योजना , एक दिवास्वप्न और एक छलावे से अलग कुछ नहीं हो सकता ।

दूसरी बात यह है कि खेती , पशुपालन आदि से ही मनुष्य की सबसे बुनियादी आवश्यकता – भोजन – की पूर्ति होती है । अभी तक खाद्यान्नों का कोई औद्योगिक या गैर खेती विकल्प आधुनिक तकनालाजी नहीं ढूँढ पाई है । भविष्य में इसकी संभावना भी नहीं है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति में खाद्य आपूर्ति और खेती का बड़ा महत्व है । जो देश स्वतंत्रता और सम्मान के साथ रहना चाहते हैं , वे खाद्य स्वावलम्बन पर बहुत जोर देते हैं । खाने के लिए दूसरों के सामने हाथ फैलाना चरम लाचारी का द्योतक है । जापान जैसे देश तो भारी अनुदान देकर भी अपनी धान की खेती को कायम रखना चाहते हैं । संयुक्त राज्य अमरीका ने भी अपनी खेती के अनुदान लगातार बढ़ाये हैं , ताकि वह ज्यादा उत्पादन करके दुनिया में खाद्य व अन्य कच्चे माल के बाजार पर अपना नियंत्रण बनाए रख सकें । विश्व व्यापार संगठन की वार्ताओं में खेती के मुद्दे पर ही गतिरोध बना हुआ है ।

तीसरी बात यह है कि मानव समाज की आर्थिक गतिविधियों में ( खेती एवं पशुपालन , मछलीपालन आदि ) ही ऐसी गतिविधि हैं , जिसमें वास्तव में उत्पादन एवं नया सृजन होता है । प्रकृति की मदद से किसान बीज के एक दाने से बीस से तीस दाने तक पैदा कर लेता है । उद्योगों में कोई नया उत्पादन नहीं होता , पहले से उत्पादित पदार्थों(कच्चे माल) का रूप परिवर्तन होता है । सेवाएं तो , जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं , परजीवी होती हैं और पहले से सृजित आय के पुनर्वितरण का काम करती हैं । उर्जा या कैलोरी की दृष्टि से भी देखें, तो जहाँ अन्य आर्थिक गतिविधियों में उर्जा की खपत होती है, खेती में , पशुपालन में उर्जा या कैलोरी का सृजन होता है । इसमें मार्के की बात प्रकृति का योगदान है । खेती में प्रकृति मानव श्रम के साथ मिलकर वास्तव में सृजन करती है ।

इन कारणों से मानव समाज में खेती का अहम स्थान बना रहेगा। विकास या प्रगति की किसी भी योजना में खेती व गाँव को केन्द्र में रखना होगा, तभी वह सही मायने में विकास कहला सकेगा। ऐतिहासिक रूप से चले आ रहे गाँव, खेती व किसानों के शोषण को समाप्त करना होगा और पूँजी के प्रवाह को उलटना पड़ेगा। बुद्धदेव भट्टाचार्य को इस बात का जवाब देना होगा कि **आखिर किसान का बेटा किसान ही रहकर खुशहाल क्यों नहीं हो सकता ?** अन्न उत्पादन करके मानव जीवन की सबसे बुनियादी जरूरत पूरी करनेवाला किसान फटेहाल, अशिक्षित और कंगाल क्यों रहे ? वह इस देश का समृद्ध, सुशिक्षित, सम्मानित नागरिक क्यों नहीं हो सकता ?

लेकिन क्या खेती से ही सबको रोजगार मिल जाएगा और औद्योगीकरण की कोई जरूरत नहीं है ? इसका जवाब है बिलकुल नहीं। लेकिन वह बिलकुल अलग किस्म का औद्योगीकरण होगा। आज भारत के गाँव उद्योगविहीन हो गए हैं और वहाँ खेती-पशुपालन के अलावा कोई धंधा नहीं रह गया है। गाँव और खेती एक दूसरे के पर्याय हो गये हैं। दूसरी ओर गाँव और उद्योग परस्पर विरोधी हो गये हैं। जहाँ गाँव है, वहाँ उद्योग नहीं है और जहाँ उद्योग है, वहाँ गाँव नहीं है। यह स्थिति अच्छी नहीं है और यह भी औपनिवेशिक काल की एक विरासत है। अँग्रेजी राज के दौरान भारत के सारे छोटे, कुटीर व ग्रामीण उद्योग धन्धों को खतम कर दिया गया। अर्थशास्त्री थॉर्नर दम्पती ने इसे विऔद्योगीकरण या औद्योगिक-विनाश (deindustrialisation) का नाम दिया था। उन्होंने जनगणना के आंकड़ों की तुलना करके बताया कि अँग्रेजी राज में कृषि पर निर्भर भारत की आबादी का हिस्सा घटने के बजाए बढ़ा था और उद्योगों पर निर्भर हिस्सा कम हुआ था। देश आजाद होने के बाद भी भारत के गाँवों के औद्योगिक विनाश की यह प्रक्रिया कमोबेश चालू रही, हांलाकि अब वह जनगणना की आंकड़ों में उतने स्पष्ट ढंग से नहीं दिखाई देती। सिंगूर, नन्दीग्राम और विशेष आर्थिक क्षेत्रों से यह प्रक्रिया और तेज होगी।

यदि बंगाल की वामपंथी सरकार वास्तव में बंगाल का विकास करना चाहती है तथा बेरोजगारी दूर करना चाहती है, तो उसे इस प्रक्रिया को उलटना होगा। उसे टाटा और सालेम समूह को बुलाने के बजाय बंगाल के गाँवों में लघु व कुटीर उद्योगों का जाल बिछाना होगा। जरूरी नहीं कि ये कुटीर उद्योग पुरातन जमाने की नकल हों। नई परिस्थितियों के मुताबिक नए ढंग के कुटीर उद्योग हो सकते हैं। लेकिन वे गाँव आधारित हों, गाँव के स्वावलम्बन को मजबूत करते हों, कम पूँजी और अधिक श्रम का इस्तेमाल करते हों। इस प्रकार के औद्योगीकरण में किसानों की जमीन छीनने और उन्हें विस्थापित करने की जरूरत नहीं होगी। बड़ी पूँजी लगाने के लिए देशी पूँजीपतियों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की चिरौरी करने की जरूरत नहीं होगी। गाँवों के निवासियों को नगरों, महानगरों व औद्योगिक केन्द्रों की ओर पलायन नहीं करना पड़ेगा। गाँवों और खेती को कंगाल बनाकर उनसे पूँजी खींचने की जरूरत

नहीं होगी। इसमें आय, पूंजी व सम्पत्ति का केन्द्रीकरण नहीं होगा। प्रकृति से दुश्मनी और पर्यावरण का नाश भी कम होगा। हां, इसके लिए केन्द्र सरकार और भूमण्डलीकरण की ताकतों से जरूर वास्तव में लोहा लेना होगा। सिर्फ विरोध की रस्म अदायगी से काम नहीं चलेगा।

इसी प्रकार का विकेन्द्रित और गांव-केन्द्रित औद्योगीकरण तथा विकास ही भारत जैसे देशों के लिए उपलब्ध एकमात्र विकल्प है। आज के सन्दर्भ में समाजवाद का रास्ता भी यही है। इतिहास के अनुभवों की समीक्षा और विश्लेषण करते हुए और अपने वैचारिक पूर्वाग्रहों को छोड़ते हुए, तमाम वामपंथियों को इसे स्वीकार करना चाहिए। इसमें कुछ गाँधी और शुमाखर की बू आए, मार्क्स, माओ और गांधी का मेल करना पड़े, नारोदनिकों की जीत व लेनिन की हार दिखाई दे, तो होने दें, क्योंकि आम जनता के हित, समाजवाद का लक्ष्य और इतिहास की सच्चाई किसी भी वैचारिक हठ या पूर्वाग्रह से ज्यादा बड़ी चीज है।

लेखक – सुनील ,

राष्ट्रीय अध्यक्ष, समाजवादी जनपरिषद,

ग्राम/ पोस्ट केसला, वाया इटारसी ,

जिला होशंगाबाद (म.प्र.) ४६१ १११